उपन्यासकार की मृत्यु

निरंतर प्रवासी कृष्ण बलदेव वैद

उदयन वाजपेयी

अपने आख़िरी दिनों में वैद साहब का अक्सर वीडियो फ़ोन आता था। वे बिस्तर पर लेटे होते और उनकी बेटी उन्हें फ़ोन पकड़ा देती। उनका चेहरा पिचक गया था, बाल लगभग हमेशा ही बिखरे रहते, कमीज़ या टी-शर्ट शरीर पर झूलती-सी जान पड़ती। वे सारी बातें लगभग मुँह में ही बोल लेते थे। मुझ तक केवल उनकी फुसफुसाहट ही आती थी। कभी कोई पूरा वाक्य भी मानो बाक़ी धुँधली आवाज़ से बाहर भी आ जाता था। ऐसे वाक्यों से उनकी बीमारी का पता चलता, पर वे उसे इस तरह बोलते मानो किसी और की बीमारी का ज़िक्र कर रहे हों। जब उनकी थोड़ा बहुत बोलने की भी शक्ति चुक जाती, वे मुस्करा देते— एमील सिओरिन के शब्दों में, 'स्वयंनिष्ठ मुस्कान, डरावनी-मुस्कान, ऐसा मुखौटा जो किसी भी चेहरा को ढँक ले : मसलन खुद हमारे चेहरे को!'

इस मुस्कुराहट में उनकी बोल पाने की असमर्थता तो होती ही थी, उनकी अवस्था को व्यक्त करने में भाषा मात्र की सीमा भी प्रकाशित हो उठती। जिस भाषा ने जीवन भर उनका साथ दिया, जिसने उनके बेचैन प्रवास को सहन योग्य बनाया, उसे दूसरों से अलक्षित बनाया, उसी भाषा ने मृत्यु की ओर सरकते इस बूढ़े लेखक के निपट अकेलेपन और पीड़ाओं के आगे हथियार डाल दिये। उनकी उन लगभग अंतिम बातों में मुझे रह-रह कर युधिष्ठिर द्वारा यक्ष को दिया एक उत्तर याद आता, 'संसार का सबसे बड़ा आश्चर्य यह है कि यह जानते हुए भी कि वह नश्वर है, मनुष्य इस तरह जीता है मानो वह अमर हो।' वैद साहब अंतिम दिनों में इस भ्रम से पूरी तरह मुक्त हो गये थे। उनके ऊपर से अनश्वरता का अंतिम आवरण भी हट गया था। पर यह अचानक नहीं हुआ था। उनकी डायरियाँ पढ़ने पर यह दिख जाता है कि वे अपने नश्वर होने के भाव को हमेशा ही पास रखे रहे। उन्होंने उस भाव पर पड़े आवरण को निरंतर झीना बनाया।

भारत के दु:खद विभाजन ने मृत्यु का जो बीज उनके अंतस में बोया था, वह अमेरिकी प्रवास में भरा-पूरा वृक्ष बना था।

> 'इंडिविजुअल' वह व्यक्ति है जो अपने सामुदायिक जीवन से अलग हो गया है और जिसकी नियति अब सामाजिक नियति के साथ पूरी तरह जुड़ी नहीं है। उपन्यास को इसी 'इंडिविजुअल' के महाकाव्य के रूप में परिकल्पित और व्यवहृत किया गया था। भारत में आते-आते इसे दो सदियाँ लग गयीं। इसका कारण यह था कि भारतीय समाज व्यक्तियों में विखण्डित नहीं हुआ था। यहाँ का सामुदायिक जीवन भले ही टूटने लगा हो पर वह तब भी पूरी तरह से बिखरा नहीं था। हमारे आरम्भिक उपन्यासकारों का संघर्ष इस परायी विधा में अपने आख्यानों को अनुकूलित करने का हो गया। कई बार यह संघर्ष इनके बीच संवाद उत्पन्न करने का हुआ जिसके फलस्वरूप भारतीय भाषाओं में उपन्यासों ने अनेक दिशाएँ एक साथ ले लीं।

II

कृष्ण बलदेव वैद (1927-2020) का देहावसान अमेरिका के न्युयॉर्क शहर में इसी वर्ष छह फ़रवरी को हुआ। वे लम्बे समय से कैंसर समेत कुछ बीमारियों से पीड़ित थे। इस समय उनकी वय लगभग 93 वर्ष की थी। विभाजन-पूर्व के पंजाब के डिंगा में शुरू हुआ उनका सफ़र इस तरह भारत, अमेरिका, भारत और अंत में अपनी बेटियों के पास अमेरिका में ख़त्म हुआ। यह उनका सिर्फ़ अलग जगहों पर रहने का ही सफ़र नहीं था, बल्कि अलग-अलग भाषा संस्कृतियों के बीच जीवन बिताने की भी यात्रा थी। (वे हिंदी के उत्कृष्ट उपन्यासकार होने के साथ ही हिंदी से अंग्रेज़ी के श्रेष्ठ अनुवादक भी थे)। उनके लेखन में इन तमाम संस्कृतियों से उनके संवाद की छाया है और इन सबके बीच अपनी वैविध्यपूर्ण देशज संस्कृति पर गहरा आत्मविश्वास भी स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

उनकी तीनों बेटियाँ— रचना, उर्वशी और ज्योत्स्ना उनकी सेवा में कई महीनों तक निरंतर लगी रहीं। यह इसलिए अभूतपूर्व है कि अमेरिका जैसे औद्योगिक और व्यक्तिवादी समाज में ऐसा होना अपवाद स्वरूप ही हो सकता था। उस समाज में (जहाँ उपन्यास ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है) किसी परिजन की इतनी सेवा बहुत कम होती है, क्योंकि वहाँ व्यक्तिमत्ता पारिवारिकता से कहीं अधिक मूल्य रखती है। यह वैद साहब और उनकी पत्नी चम्पाजी का ही करिश्मा था कि उनकी बेटियों ने अपने चारों ओर के समाज के व्यक्तिमत्ता-प्रधान होते हुए भी अपने पारिवारिक कर्त्तव्य बोध में कमी नहीं होने दी। दूसरे शब्दों में उन्होंने अपनी व्यक्तिमत्ता, अपना 'इंडिविजुअलिज़म' को अपने परिवार चेतना की क़ीमत पर नहीं पाया लगता है। वैद साहब के उपन्यासों को समझने का यह भी एक रास्ता हो सकता है। उनके अधिकांश चरित्र जैसे *उसका बचपन* का वीरू या *बिमल उर्फ़ जाएँ तो जाएँ कहाँ* का बिमल आदि पारिवारिक भारतीय मूल्यों के बीच जीवन बसर करते हुए भी अपनी व्यक्तिमत्ता को छोड़ नहीं पाते बल्कि वह परिवार के

परिवेश में अलग से नज़र आते हैं। वे दो दुनियाओं में एक-साथ रहने के कारण जिस तनाव में रहते हैं, उससे उन्हें उनका गहरा व्यंग्य-बोध ही उबारता है।

वैद साहब का नाम उन लेखकों में लिया जा सकता है जिन्होंने अपने सांस्कृतिक मूल्यों के अनुरूप पश्चिम से आयी इस व्यक्ति केंद्रित विधा को रूपांतरित करने की वह चेष्टा की जो हिंदी में बहुत कम उपन्यासकार कर सके।

> वैद ने अपने उपन्यासों में हिंदी का उसकी पड़ोसी जुबानों यानि उर्दू और पंजाबी के साथ विलक्षण प्रयोग किया। उनके उपन्यासों में भी देवकीनंदन खत्री की तरह ही उपज हुआ करती है और 'क्लाइमेक्स' का कोई स्थान नहीं है पर उनका भाषा का उपयोग देवकीनंदन खत्री से नितांत भिन्न है। न सिर्फ़ खत्री से बल्कि हिंदी के किसी भी उपन्यास से वैद के उपन्यासों की भाषा अलहदा है। अगर निर्मल वर्मा की भाषा स्वरलिपि है, तो वैद की नृत्यरत भाषा है, वह नाचती हुई भाषा है। उनके उपन्यासों में यह नाचती हुई भाषा अपने पाठक से कुछ कहने की जगह उसे भी अपने साथ नाचने को आमंत्रित करती है। यह भी कह सकते हैं कि वैद की भाषा अपने पाठकों को उनकी चेतना में उठ रही असंख्य तरंगों के नृत्य के प्रति सजग करती है।

III

कृष्ण बलदेव वैद के योगदान को समझने के लिए यह आवश्यक है कि उपन्यास नामक विधा की अंतश्चेतना को कुछ स्पष्ट किया जाए। भारत में उपन्यास का आगमन औपनिवेशिक दबाव में हुआ था। इसका सीधा कारण यह है कि अंग्रेज़ों के भारत पर क़ाबिज़ होने के पहले तक भारत में 'इंडिविजुअल' के उत्पन्न होने की ऐतिहासिक स्थिति तैयार नहीं हुई थी। 'इंडिविजुअल' का विशिष्ट अर्थ है, वह उसी समाज में आकार लेता है जिसमें सामुदायिक जीवन विखण्डित हो गया हो। युरोप के समाज में, विशेषकर ब्रिटेन के समाज में अठारहवीं शताब्दी तक 'इंडिविजुअल' का उदय हो चुका था। 'इंडिविजुअल' वह व्यक्ति है जो अपने सामुदायिक जीवन से अलग हो गया है और जिसकी नियति अब सामाजिक नियति के साथ पूरी तरह जुड़ी नहीं है। उपन्यास को इसी 'इंडिविजुअल' के महाकाव्य के रूप में परिकल्पित और व्यवहृत किया गया था। भारत में आते-आते इसे दो सदियाँ लग गयीं। इसका कारण यह था कि भारतीय समाज व्यक्तियों में विखण्डित नहीं हुआ था। यहाँ का सामुदायिक जीवन भले ही टूटने लगा हो पर वह तब भी पूरी तरह से बिखरा नहीं था। हमारे आरम्भिक उपन्यासकारों का संघर्ष इस परायी विधा में अपने आख्यानों को अनुकूलित करने का हो गया। कई बार यह संघर्ष इनके बीच संवाद उत्पन्न करने का हुआ जिसके फलस्वरूप भारतीय भाषाओं में उपन्यासों ने अनेक दिशाएँ एक साथ ले लीं।

IV

भारत में बीसवीं शती की शुरुआत से पहले ही साहित्य में भारतीय ढंग से लिखने की खोज की शुरुआत हुई थी। प्रयास यह था कि इस युरोपीय विधा का भारतीयकरण किया जाए। उसे लिखने का भारतीय मार्ग खोजा जाए। यहाँ हमें 'भारतीय ढंग' को एकवचनात्मक न लेकर बहुवचन की तरह लेना चाहिए। जिसका अर्थ यह हुआ कि भारत की सभी भाषाओं में उपन्यास लिखने के भारतीय ढंगों की खोज महत्त्वपूर्ण रही है। हर खोज ने भारत के युरोप से सांस्कृतिक और सभ्यतागत संवाद को कुछ अलग तरह से चिह्नित किया है।

हिंदी उपन्यास में उसके आरम्भ से ही कई तरह से लिखने का प्रयास हुआ। मिसाल के तौर पर देवकीनंदन खत्री और उनके जैसे कुछ और लेखकों ने उपन्यास का एक ऐसा रूप रचने की कोशिश की जो एक तरह से अंतहीन हो सकता था। देवकीनंदन खत्री के उपन्यास *चंद्रकांता संतति* नाम से ही

यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमें उपन्यास को उपन्यासकार के मनोनुकूल बढ़ाते रहने, तानते रहने ('संतति' का मूल शब्द 'तानना' ही है) का ही सफल प्रयास हुआ। खत्री अपने उपन्यास को इस तरह नहीं लिखते थे कि वे किसी विशेष अंत पर पहुँचकर समाप्त हो जाएँ। उनके उपन्यासों में भारत की मार्गी कलाओं की तरह उपज हुआ करती थी। उन्हें उपन्यास के इस रूप की प्रेरणा तिलिस्मी आख्यानों से मिली थी। देवकीनंदन खत्री के लिखने की यह शैली बीसवीं सदी के दूसरे दशक तक आकर थम गयी। उनके उपन्यासों का पाठक वर्ग बहुत बड़ा था, पर उसे आलोचनात्मक स्वीकृति नहीं मिल सकी। इस समय तक आकर हिंदी आलोचना में पश्चिमी सौंदर्यशास्त्र से आये यथार्थवाद के मूल्यों की व्यापक स्वीकृति हो चुकी थी जिसके चलते देवकीनंदन खत्री जैसे उपन्यासकार के महत्त्व को रेखांकित करना सम्भव नहीं था। लगभग एक शताब्दी बाद उनकी कृतियों पर नये सिरे से विचार-विमर्श शुरू हुआ है।

उपन्यास लिखने का एक दूसरा ढंग प्रेमचंद का था। उन्होंने क़िस्सागोई को पश्चिम के औपन्यासिक ढाँचे में ढाल कर प्रस्तुत किया। शायद इसीलिए उनके उपन्यासों में एक ओर प्रांजलता है— जो उनकी क़िस्सागोई के कारण आती है— पर दूसरी ओर उनके उपन्यासों में सुपरिभाषित अंत हुआ करता है— जो उन्होंने पश्चिम के यथार्थवादी उपन्यासों को पढ़ कर अपनाया था। उनके उपन्यासों की इस बुनावट के कारण ही उनमें समापन का क्षण अटपटा लगता है मानो किसी कल-कल बहती हुई नदी को अचानक बाँध बनाकर रोक दिया गया हो। इन उपन्यासों में जो 'क्लाइमेक्स' आता है, और जिसे प्रेमचंद जी ने युरोपीय उपन्यासों से लिया था, उनकी क़िस्सागोई को विराम दे देता है। युरोपीय उपन्यासों में 'क्लाइमेक्स' का विचार युरोपीय संस्कृति में काल की एक विशेष समझ के कारण आविष्कृत हुआ था। पर ऐसी कोई समझ भारतीय संस्कृति में नहीं थी जिसके चलते हमारे उपन्यासकारों को उसकी आवश्यकता होती। प्रेमचंद के उपन्यासों की बुनावट पर उन्नीसवीं शती के अंग्रेज़ी यथार्थवादी उपन्यासों का बहुत प्रभाव था। चित्रकला के क्षेत्र में लगभग यही कार्य राजा रवि वर्मा ने किया था जब उन्होंने भारतीय पौराणिक चरित्रों को युरोप के एकरैखिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का प्रयास किया था।

V

जयशंकर प्रसाद की *कामायनी* को महाकाव्य कहने का अविचारित चलन है। इस चलन के पीछे इस तथ्य की विस्मृति है कि महाकाव्य अनिवार्यत: समुदायों की कथा कहते हैं जबकि उपन्यास व्यक्ति या व्यक्तियों की कथा हुआ करती है। *कामायनी* पद्य में लिखी मनु, इड़ा, श्रद्धा, *कामायनी* आदि व्यक्तियों की कथा है। इसलिए उसे पद्य में लिखा उपन्यास ही कहना चाहिए। प्रसाद ने भी *कामायनी* लिखकर भारतीय ढंग का उपन्यास लिखने का प्रयास किया था। यहाँ यह याद रखना चाहिए कि प्रसाद और प्रेमचंद समकालीन होते हुए भी बिल्कुल ही अलग दिशाओं में औपन्यासिक रूपाकार खोजने का प्रयास कर रहे थे।

प्रेमचंद से उम्र में छोटे जैनेंद्र कुमार ने *त्यागपत्र* लिख कर उपन्यास लिखने का एक और रास्ता खोजा, जिसमें उपन्यास का प्लॉट उतने महत्त्व का नहीं था जितनी उनके चरित्रों की मन:स्थिति। इस उपन्यास को पढ़ते हुए यह महसूस होता है मानो उपन्यास के चरित्र किसी प्लॉट से बँधे न होकर अपने क्रियाकलापों से एक धुँधले से प्लॉट को उत्पन्न कर रहे हैं।

फणीश्वरनाथ रेणु के साथ उपन्यास लिखने का एक और ढंग हिंदी भाषा में आया। यह देवकीनंदन खत्री, प्रसाद, प्रेमचंद आदि से अलग था। रेणु ने मिथिला अंचल की लोककथाओं को उस अंचल की ही बोली, मैथिली में गूँथ कर अपने उपन्यासों में बुन दिया। इससे उन्होंने उपन्यास और लोककथाओं के बीच की दीवार को ढहा दिया और एक बिल्कुल ही नये औपन्यासिक अनुभव को सम्भव किया।

उनके उपन्यास में मिथिला अंचल के लोगों की आवाज़ें इस हद तक सुनाई पड़ती हैं कि आप यह कह सकते हैं कि उनका उपन्यास लेखन कम, अभिलेखन (ट्रांसक्रिप्शन) अधिक है। मैथिली बोली के उपयोग से रेणु के उपन्यासों में सघन ऐंद्रिकता भी आ गयी और साथ ही उनके चरित्रों के चारों ओर फैली ग्रामीण सांस्कृतिक अंतश्चेतना भी ध्वनित होने लगी।

VI

रेणु के बाद जिन तीन लेखकों ने उपन्यास के स्वरूप पर मूलभूत काम किया है वे निर्मल वर्मा, कृष्ण बलदेव वैद और कृष्णा सोबती हैं। हिंदी उपन्यास की अपनी अस्मिता को पाने की तलाश के ये तीन रास्ते एक-दूसरे से बिल्कुल अलग और तब भी सभी अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं (वैसे भी साहित्य में खोज के रास्तों का ही महत्त्व होता है, उपलब्धि का नहीं)। निर्मल वर्मा ने खड़ी बोली का अपने उपन्यासों में लगभग स्वरलिपि की तरह उपयोग कर उसमें एक अपूर्व सोचती हुई ऐंद्रिकता को उद्घाटित किया। जबकि कृष्ण बलदेव वैद ने उनसे बिल्कुल अलग एक ऐसा रास्ता लिया जिस पर तब तक कोई भी दूसरा भारतीय उपन्यासकार नहीं चला था। वैद ने अपने उपन्यासों में हिंदी का उसकी पड़ोसी ज़ुबानों यानि उर्दू और पंजाबी के साथ विलक्षण प्रयोग किया। उनके उपन्यासों में भी देवकीनंदन खत्री की तरह ही उपज हुआ करती है और 'क्लाइमेक्स' का कोई स्थान नहीं है पर उनका भाषा का उपयोग देवकीनंदन खत्री से नितांत भिन्न हैं। न सिर्फ़ खत्री से बल्कि हिंदी के किसी भी उपन्यास से वैद के उपन्यासों की भाषा अलहदा है। अगर निर्मल वर्मा की भाषा स्वरलिपि है, तो वैद की नृत्यरत भाषा है, वह नाचती हुई भाषा है। उनके उपन्यासों में यह नाचती हुई भाषा अपने पाठक से कुछ कहने की जगह उसे भी अपने साथ नाचने को आमंत्रित करती है। यह भी कह सकते हैं कि वैद की भाषा अपने पाठकों को उनकी चेतना में उठ रही असंख्य तरंगों के नृत्य के प्रति सजग करती है। वैद का उपन्यास छपे हुए पन्नों पर उतना घटित नहीं होता जितना वह पाठकों की अपनी टूटती-बिखरती-सँवरती चेतना की लहरों में घटता है। वैद के उपन्यासों में भाषा का यह नाच आपको तरह-तरह की छवियाँ दिखाता और छिपाता है। मानो वह देश के विभाजन के बाद के किसी व्यक्ति के अंतस का कैलाइडोस्कोप हो जिसमें तरह-तरह के रंग, रूप और छवियाँ आ रही हों और जा रही हों और इन्हीं सबके बीच जीवन के मक़सद, कर्म की सम्भावना, ज्ञान की इयत्ता आदि गूढ़ विषयों पर विचार भी चल रहा हो। वैद के उपन्यासों में पाठकों ने शायद पहली बार हिंदी भाषा के चरम लचीलेपन और खिलंदड़ेपन को अनुभव किया था। यह वही खिलंदड़ापन था, वही लचीलापन जो हमारी तमाम बोलियों में अनायास ही परिलक्षित होता है। वैद साहब ने निश्चय ही अपने उपन्यासों में बोलियों का प्रयोग नहीं किया पर वे बोलियों का गूढ़ तत्त्व अपनी हिंदी-उर्दू-पंजाबी मिश्रित भाषा में ले आये।

VII

वैद साहब ने उपन्यासों, कहानियों के अलावा *सवाल और स्वप्न, भूख आग है, हमारी बुढ़िया* जैसे विलक्षण नाटक लिखे जिनमें से कुछ का मंचन राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के जाने-माने निर्देशकों ने किया।

वैद साहब की ज़िंदगी भी उनके उपन्यासों की तरह ही समतल नहीं रही। उसमें कई उतार-चढ़ाव आये, कई मुश्किलें पेश आयीं, कई रास्ते खुले, कई बंद हुए। उनके उपन्यासों से उनके जीवन और उनकी लेखन यात्रा का बहुत पता नहीं चलता। वे उसे अपने उपन्यासों में इतना अधिक रूपांतरित कर देते हैं कि वह उनसे स्वतंत्र होकर उनके चरित्रों का हो जाता है। उनके जीवन के अंतिम वर्षों में जब मैंने उनसे उनकी जीवन-यात्रा के बारे में लम्बी बातचीत की (जो *प्रवास और प्रवास* नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित है) उन्होंने अपने जीवन के जितने और जैसे तथ्यों का उल्लेख किया, वह किसी भी पाठक को बेचैन कर देगा। उन्होंने इन सारी विपदाओं, पीड़ाओं और अवसादों को दैन्य में परिवर्तित

नहीं होने दिया, उसका अपने उपन्यासों, कहानियों और नाटकों में गरिमामय रूपांतरण कर दुनिया भर पाठकों को अपनी विपदाओं, पीड़ाओं और अवसादों को सहने योग्य बनाने का सुदीर्घ उपक्रम किया।

कृष्ण बलवेद वैद पिछले कुछ वर्षों से अमेरिका के कॉलेज स्टेशन नाम के शहर में पत्नी चम्पाजी के साथ रहते रहे थे, बाद में वे अपनी बड़ी बेटी रचना के पास न्युयॉर्क आ गये थे। वहाँ रहते हुए वे नियमित डायरियाँ लिखते रहे। उनकी डायरियों की *शिकस्त की आवाज़, ख़्वाब है दीवाने का, शमा हर रंग में, डुबोया मुझको होने ने* आदि कई किताबें प्रकाशित हुई हैं। अपनी डायरियों में भी वैद साहब अपने उपन्यासों और अन्य कृतियों की तरह ही खुद को लगातार कटघरे में खड़ा कर अपने ही ख़िलाफ़ मुक़दमा चलाते रहे। साथ ही इन डायरियों में उनके निरंतर प्रवासी होने की पीड़ा भी झाँकती रहती है, जिसमें हम ऐसे अन्यान्य प्रवासी भारतीयों की अंतरात्मा की झलक पा सकते हैं जो चाह कर भी अपने मूल देश में रह नहीं पा रहे और जिन्हें किसी कारणवश विदेशों में रहना पड़ रहा है। यहाँ मैं उन प्रवासी भारतीयों की बात नहीं कर रहा जो बचपन से ही विदेशों में रहने का स्वप्न सँजोये हुए ही वयस्क हुए हैं। उनके लिए तो विदेश जाना अपने देश से बाहर जाने का महज़ एक बहाना भर है। वैद साहब अमेरिका में रहते हुए भारत लौटने का सपना जीते रहे और अमेरिकी विश्वविद्यालय से सेवानिवृत्त होने के बाद भारत में कुछ वर्षों बसने के दौरान अपनी बेटियों के पास अमेरिका जाने की सोचते रहे। और अपने आख़िरी वर्षों में अमेरिका में अपनी पत्नी चम्पा वैद को खोने के बाद बीमारी और हिम्मत से गुज़रते हुए हम सबको थोड़ा-सा और अकेला कर चले गये।